बदला

[कहानी संग्रह]

लेखक :

श्री जितेन्द्रनाथ

मूल्य ४० नये पैसे

प्रकाशक
मित्र प्रकाशन प्राइवेट लि०
इलाहाबाद ३

मुद्रक :
वीरेन्द्रनाथ घोष,
माया प्रेस प्राइवेट लि०
इलाहाबाद ३

बदला

बारस सौ वर्ष पहले उज्जैन नगर के एक प्रान्त में, नदी के किनारे, एक शिव-मन्दिर था। एक दिन मन्दिर के आँगन में एक नर्त्तकी नाच-गान करने आई। उसके साथ में एक युवती बीणा बजा रही थी। वह शायद उसकी सहचरी थी। अपरिचिता और नवागता नर्त्तकी अतुलनीय सुन्दरी, मधुर स्वर वाली और अपूर्व निपुण गायिका थी। उसका मनोहर नाच देख कर दर्शकों को लगा कि मानो कोई स्वर्ग की अप्सरा मानवी रूप लेकर पृथ्वी पर उतर आई है। मानो अपने मोहक सौन्दर्य और उससे भी अधिक मोहक हाव-भाव की मधुरता की तरंगों से मन्दिर के आँगन को बहा कर नर्त्तकी संगीत के साथ नाच रही है।

दर्शकों के बीच एक युवक बैठा हुआ था; उसकी मोह-भरी तन्मयता और लोगों की तन्मयता का अतिक्रमण कर के पूर्णता में पहुँच गई थी। वह स्तब्ध देह से, एकटक दृष्टि से, मूर्त्ति की भाँति नर्त्तकी की ओर देखता हुआ बैठा था। और लोगों की तरह प्रशंसा-सूचक ध्वनि उसके अध-खुले ओठों से नहीं निकली। नर्त्तकी भी बार-बार अपने उज्ज्वल मुस्कान-भरे नयनों की चित्ताकर्षक दृष्टि से उसकी ओर देख रही थी। उसी के उद्देश से मानो संगीत झंकृत हो उठ रहा था, मानो उसी के चित्तरंजन के लिये वह अपूर्व नृत्य की छटा दिखा रही थी। सभी बार-बार इस युवक की ओर देख रहे थे, सोच रहे थे—अहा, आज यह कितना भाग्यवान है!

सब ने बहुत ही आश्चर्य से और भी एक बात लक्ष्य की, कि वह अपूर्व सुन्दरी नर्त्तकी एक भी गहना नहीं पहिने है; और उसकी पोशाक भी अति साधारण है। जिसके ओठों की जरा-सी मुस्कान और नयनों की एक मधुर दृष्टि के लिये स्वयं उज्जैन-पति भी अपने राज-खजाने के श्रेष्ठ रत्नों को बिना हिचक दे सकते हैं; वह ऐसी आभूषणहीन और ऐसे दीन वेष में क्यों है? कदाचित् नर्त्तकी अपनी सहज सुन्दरता पूर्णभाव से दिखाने के लिये ही चमकती पोशाक और गहने नहीं पहनती।

नाच और गाना समाप्त हो गया उस युवक के सिवाय और सब न उसे कुछ न कुछ पुरस्कार दिया . उन्हे उसकी सहचरी न अपनी चादर म बाँध लिया। नर्त्तकी ने युवक की ओर देखा और मधुर मुस्कान के साथ उसका अभिवादन किया। किन्तु युवक पहले की तरह स्तब्ध भाव से बैठा रहा। फिर नर्त्तकी मन्दिर के बरामदे में चढ़ गई। देवता को प्रणाम कर के वह द्वार के निकट बैठी। लोग एक-एक कर के चले गये, केवल वह युवक नहीं गया। वह नर्त्तकी की ओर घूम कर स्थिर नयनों से देखता हुआ उसी आँगन में बैठा रहा। सहचरी पास ही एक खंभे से टेक दे कर खड़ी हौले हौले मुस्कराती रही।

कुछ समय के बाद नर्त्तकी उठ कर मन्दिर के बाहर आई। बाहर एक बाग था। उसने उसी बाग में प्रवेश किया। तब युवक भी उठ कर बेचैनी के साथ उसके पीछे पहुँच गया। नर्त्तकी घूम कर खड़ी हो गई। पहले की-सी मधुर मुस्कान के साथ अभिवादन कर के बोली—"महाशय, क्या मुझसे कोई आवश्यकता है ?"

"तुम कौन हो, सुन्दरी ? क्या अपना परिचय बताओगी ?"

"मै एक नाचने वाली हूँ। मन्दिरों में मैं नाचती-गाती हूँ।"

"सो तो मैंने देखा ! पर तुम कौन हो ? तुम्हारा क्या नाम है ?"

"इस दासी का नाम कुसुमिका है।"

"दासी ! पृथ्वीश्वर जिसकी गुलामी स्वीकार कर के अपने को धन्य समझ सकते हैं, क्या वह दासी है ?"

ज़रा मुस्करा कर कुसुमिका ने उत्तर दिया—"यह अभागी बहुत ही दीन और हीन है ! मन्दिरों में नाच-गा कर किसी तरह अपनी गुजर करती है। आप उससे ऐसा निर्दय व्यंग्य क्यों कर रहे हैं ?"

"क्या मैंने व्यंग्य किया है, कुसुमिका ? शायद तुम दर्पण में अपनी छाया देख कर मुग्ध नहीं हुई हो। शायद दुनिया के सब मनुष्य भी अन्धे हो गये हैं। इसीलिये अभी तक नहीं समझ सकी हो कि तुम अमूल्य धन की अधिकारिणी हो। उस धन के बदले में पृथ्वीश्वर भी तुम्हारे चरणों में अपने को बिखेर दे सकते है।"

"वह धन है क्या, महाशय ? सौन्दर्य ?"

तुम्हारा दुर्लभ स्वर अहा जो स्त्री इस धन की अधिकारिणी है वह सारी दुनिया की मालिक है !"

हँस कर कुसुमिका ने उत्तर दिया—"यह यदि वास्तव में धन हो, तो बहुत ही तुच्छ धन है। यह तो स्थायी नहीं है। जो धन चन्द दिनों के लिये है, उस धन के आधार का आदर हो सकता है। लेकिन फिर ?"

"इस आधार में इस धन का कभी अन्त नहीं होगा।"

"अनेक धन के लोभियों ने यह बात कही है। पर इस अस्थायी जगत् में कुछ भी स्थायी नहीं है। मैं समझ नहीं सकी हूँ कि धन का अन्त होने पर कोई इस आधार का आदर कर सकता है या नहीं। इसीलिये अब तक इस खाक धन के बदले में किसी की गुलामी नहीं खरीदी है।"

"यह धन और धन का आधार जो अभिन्न है, कुसुमिका ! धन है, तो आधार है; आधार है, तो धन है। धन शून्य आधार की सम्भावना तो सोची नहीं जा सकती।"

फिर मधुर मुस्कान के साथ कुसुमिका बोली—"खैर, आज आपसे एक नई बात सुन ली।"

"कुसुमिका !"

"कहिये, महाशय ?"

"क्या तुम अपना परिचय न बताओगी ?"

"मैं कुसुमिका के नाम से प्रसिद्ध हूँ। मन्दिरों में मैं नाचती और गाती हूँ। मेरा इससे अधिक कोई परिचय नहीं है।"

"तुम्हारे माँ-बाप का निवास कहाँ है ? क्या तुम्हारा कोई स्वजन नहीं है ?"

"माँ-बाप नहीं है। कोई स्वजन भी नहीं है। कन्नौज के एक श्रेष्ठि-समाज की पत्नी ने मेरा पालन किया था। वे स्वयं नृत्य-गान में निपुण थी, उन्होंने बहुत यत्न से मुझे इसकी शिक्षा दी थी। हाल ही में असहाय हालत में उनकी मृत्यु हुई है। निरुपाय होकर मैंने यह पेशा अख्तियार कर लिया है। मेरी ही सम-वयस्क उनकी दासी थी, उसे बहिन-सी मानती थी। केवल वही मेरे साथ आई है। अरे आओ, चन्द्रिका !"

मै तो कब से यहां नही हूं अब तक तुम्हारी दृष्टि तो और कहीं थी ! सौभाग्य है कि अब तुम्हें याद पड़ी !"

चन्द्रिका की ओर क्षण भर के लिये देख कर युवक ने कुसुमिका से कहा—"कन्नौज के श्रेष्ठि-समाज में कोई ऐसा गुणों का आदर करने वाला युवक न था, जो धन-हीन और असहाय होने पर भी तुमसे विवाह करता ?"

"गुण का आदर करने वाला न रहे, पर सौन्दर्य का आदर करने वाले युवकों की कमी कहीं भी नहीं है। महाशय, स्वयं भी उनमें से एक हैं। लेकिन ऐसे किसी सौन्दर्य-प्रेमी को आत्मदान करने की इच्छा नहीं की है।"

"मैं सौन्दर्य का प्रेमी नहीं हूँ, कुसुमिका, मैं तुम्हारा गुण-ग्राही हूँ।"

"महाशय को अब तक किसी गुण का पता नहीं मिला होगा !"

"तुम्हारा गान—तुम्हारा अपूर्व नाच . . ."

"वे सब तो केवल सौन्दर्य की तरह उपभोग की वस्तु हैं।"

"तुम्हारी बातों से भी तो गुणों का काफी पता मिल रहा है।"

"जब आपने मेरा पीछा किया था, तब क्या मेरे गुणों का पता आप पा गये थे ?"

"मुझे लज्जित न करो, कुसुमिका ! मैंने सौन्दर्य-मुग्ध होकर तुम्हारा पीछा किया था। लेकिन अब . . ."

"गुणों का पता पाकर आप अब और भी मुग्ध हो गये होंगे। लेकिन खबर-दार, महाशय ! बुद्धिमानी के साथ बोलना-चालना नारी-चरित्र के गुणों में शामिल नहीं है।"

"तुम ऐसी सरल, ऐसी स्पष्टवादी हो !"

"झगड़ालू स्त्रियों को ही ऐसी सरल और स्पष्टवादिता की छाप दी जा सकती है।"

युवक ने मुस्करा कर कहा—"स्त्री स्पष्टवादी हो सकती है। पर कोई भी उसे सरला नहीं कहता है। सरल होने पर भी वह कभी ऐसी मधुर नहीं हो सकती।"

कुसुमिका ने भी मुस्करा कर उत्तर दिया—"महाशय, अवश्य ही मूर्ख नहीं हैं। 'विष-कुम्भ भी पयो-मुख हो रहता है' शायद यह कहावत आपने सुनी होगी।"

"जो सावधान करता है, उससे विपद की आशंका नहीं रहती है।"

"दीप-शिखा ताप के द्वारा सावधान करती है, पर फिर भी पतंग क्यों जल कर मरते हैं ?"

"यदि पतंग मर कर धन्य होते हैं, तो वह मृत्यु वास्तव में चाहने लायक है।"

"आप चाहते रहिये। दीप-शिखा होने पर भी मै किसी पतंग को जलाना नही चाहती।"

"दीप-शिखा के जलाना न चाहने पर भी पतंग स्वयं जाकर जलते हैं।"

"जलें ! पतंग की जैसी मर्जी हो। मैं चाहे दीप-शिखा हूं, चाहे कुछ, मैं किसी को भी न जला कर दूर हट जाना चाहती हूँ। दासी का अभिवादन स्वीकार कीजिये। आओ, चन्द्रिका, चलो।"

"ठहरो, ठहरो, कुसुमिका ! मेरी एक प्रार्थना है, उसे सुन तो लो।"

"दासी हूँ, आज्ञा कीजिये।" कह कर कुसुमिका घूम कर खड़ी हो गई।

"कुछ उपहार देने पर क्या स्वीकार करोगी ?"

"उपहार ! मेरा उपहार में क्या अधिकार है ? बल्कि पुरस्कार कहिये। तो आप क्या पुरस्कार देना चाहते हैं ? दीजिये, क्यो न लूंगी ? मेरा तो यही पेशा है।"

मुस्कान-भरे चेहरे से कुसुमिका ने हाथ फैलाया।

युवक ने कहा—"तुम्हारी देह में एक भी गहना नहीं है। पता नहीं, सचमुच तुम्हारे पास कोई गहना है या नही, या अपने स्वाभाविक चकाचौंध करने वाले सौन्दर्य को दिखाने के लिए ही तुमने अवहेलना के साथ गहने त्याग दिये हैं !"

हँस कर कुसुमिका ने कहा—"चाहे जितना ही सौन्दर्य रहे, गहने स्त्रियों की कामना की चीज हैं। स्वर्ग की अप्सरायें भी कितने आभूषणों से अपने को सजाती हैं। मैं बहुत ही दीन हूँ, महाशय, मेरे पास कोई गहना नही है। क्या आप नहीं देख रहे हैं कि मेरी सहचरी भी आभूषण-हीन है ?"

"तुम्हारे गान और नृत्य से मुग्ध इस दीन के कुछ आभूषण क्या स्वीकार करोगी ?"

अभिवादन कर के कुसुमिका बोली—"महाशय, नाचना और गाना मेरा

पशा ह उससे सन्तुष्ट होकर यदि कोई कुछ देता है तो मैं खुशी के साथ लूंगी ”

अच्छी बात है तो तुम इस सामान्य उपहार को लेकर मुझे भी खुश करो ”

“उपहार नहीं, पुरस्कार कहिये !”

“चाहे कुछ हो। मेरे इन तुच्छ आभूषणों के लेने पर—अपने अंगो में पहिनने पर. . .”

“मुझे मालूम है कि आपको बड़ी खुशी होगी। है न? अच्छा, तो दीजिये !”

बहुत मधुर मुस्कान के साथ नटखट दृष्टि से उसने युवक की ओर देखा। एक असहनीय आनन्द-प्रवाह से युवक की सारी देह रोमांचित हो उठी। उसने कॉपते हाथों अपने कुण्डल, हार, वलय आदि वहु-मूल्य गहने खोल-खोल कर कुसुमिका के हाथ में दे दिये। दबी हँसी के साथ कुसुमिका भी एक-एक को लेकर अपने अगों में पहिनने लगी।

“महाशय, आप बहुत उदार हैं। दासी को आपने बहुत दान दिया! शिव जी आप का भला करें! लेकिन. . .” कहते-कहते कुसुमिका ने अपना लज्जा से गुलाबी मुख नीचा कर लिया।

“लेकिन क्या. . .कुसुमिका? तुम क्या कहना चाहती हो, निःसंकोच कहो। मै तुम्हारी कोई भी इच्छा पूरी कर पाने पर अपने को धन्य समझूगा !”

नीचे की ओर देखती हुई कुसुमिका ने उत्तर दिया—“मेरी कोई भी इच्छा नही है। मैं सोच रही हूँ. . .इन आभूषणों को लेकर मैं क्या करूँगी? मेरा कोई घर नही है, जहाँ सुविधा हुई, वही रह जाती हूँ। इन चीजों की चोर डाकुओं से कैसे रक्षा कर सकूंगी? शायद जीवन का अन्त हो जायगा। इसलिए मेरे विचार में यह अच्छा हो, अगर आप इन्हे वापस ले लें। पुरस्कार के तौर पर, बल्कि मुझे कुछ धन दीजिये। वही मेरे लिये काफ़ी होगा।”

“नहीं, कुसुमिका! छिः! जिन आभूषणों को पहिन कर तुमने मुझे धन्य किया है, जिन आभूषणों के साथ मेरे आकुल चित्त की सारी कामनायें मानो तुम्हारे एक-एक अंग के स्पर्श से तृप्त हुई हैं, तुम उन आभूषणों को लौटा लेने को कह रही हो?”

“तब मैं अब इन्हें लेकर क्या करूँ? इन्हें कहाँ रक्खूं?”

नगर के निकट मेरा एक सुरक्षित बगीचेदार घर है। उस घर की और उस घर के सब दास-दासियों की आज से तुम मालकिन हुई। उस घर में तुम चैन से रहोगी; दास-दासियों का पालन कर सको, इन सब के लिये धन की जो आवश्यकता है तुम वहीं पा जाओगी। आज से उस घर का सब कुछ तुम्हारा है।"

"मैं धन्य हो गई! महाशय, आप बड़े ही कृपालु हैं। लेकिन क्या यह करुणा का दान है, या इस मूल्य के बदले में आपकी कुछ कामना भी है?"

युवक ने उत्तर दिया—"मेरी जो कामना है, वह धन-दौलत से खरीदी नहीं जा सकती। इस सामान्य उपहार के बदले में मुझे कुछ भी नहीं चाहिये। आज तुमने अपने गान और नृत्य से मुझे जो आनन्द दिया है, तुम इसे उसी का पुरस्कार समझ लेना।"

"जैसी आप की आज्ञा! क्या मैं इस उदार पुरस्कार-दाता का परिचय जान सकती हूँ?"

"मेरा नाम रत्नेश्वर है। मेरे पिता इस उज्जैन नगर में धनेश्वर श्रेष्ठी के नाम से परिचित थे।"

मुह फेर कर कुसुमिका ने एक ठण्ढी साँस ले कर रत्नेश्वर की ओर देखा। फिर धीरे-धीरे वह बोली—"वे जो दौलत छोड़ गये हैं, आप इस तरह बरबाद कर रहे हैं?"

जरा मुस्करा कर रत्नेश्वर ने कहा—"दौलत सुख के लिये है। जिसको जिसमें सुख है, वह अपना धन उसी में खर्च करता है। कोई शायद इसे बरबादी ही समझेगा; पर अपने सुख की गिनती में मैं ऐसा नहीं समझता।"

"इस समय नहीं समझ रहे हैं, किन्तु कुछ दिनों के बाद शायद समझना पड़ेगा।"

रत्नेश्वर ने स्थिर, मुग्ध दृष्टि से देखते हुये उत्तर दिया—"मैंने फ़कीर हो जाने पर भी तुम्हें जो कुछ दिया, आज्ञा मिलने पर और भी शायद जो कुछ दूंगा, उसे फ़िजूल खर्च कभी भी नहीं समझूंगा। जगत् में दीन अनेक है, पर जीवन की अति प्रिय आकाँक्षा से जो तृप्त है, वह कभी भी अनुतप्त नहीं होता है।"

कुसुमिका ने कहा—"आपने केवल दिया ही है। कहते हैं कि और भी देंगे। पर आपने कैसे समझ लिया कि उससे आपकी काँक्षा की तृप्ति होगी?"

"जब केवल देना ही आकाँक्षा है, तब देने से ही अवश्य तृप्ति होगी।"

तो आपकी केवल देन की आकांक्षा है ? क्या सचमुच बदले में पाने की आकांक्षा कुछ भी नहीं है ?"

"कुसुमिका ! मैं जो पाना चाहता हूँ वह ..मैं फिर कहता हूँ कि वह धन-दौलत के बदले में मिल नहीं सकता।"

"तो किस चीज़ के बदले में वह पा सकते हैं ?"

"वह जिस चीज के बदले में पा सकता हूँ, वह यदि मैं दे सकूं, और तुम ले सको, तो शिव की कृपा से उचित समय पर पा जाऊँगा। तब तक..."

"तब तक ?"

"तब तक मैं और कुछ नहीं चाहता, कुसुमिका ! कभी-कभी अगर मैं तुम्हें देख पाऊँ, तुम्हारे गान सुन सकूं, और उसके बदले में कभी उपहार देने पर अगर तुम कृपा कर के स्वीकार करो, तो मैं उससे ही धन्य हो जाऊँगा !"

कुसुमिका के हृदय में तूफ़ान मच कर एक बहुत गहरी साँस उठी। उसने साँस को छाती में दबा रख कर धीरे-धीरे छोड़ा। रत्नेश्वर की ओर एक बार देख कर उसने अपना वेदना से मलिन मुख नीचा कर लिया।

यह देख कर रत्नेश्वर ने कहा—"मेरी किसी बात से क्या तुम्हें व्यथा मिली, कुसुमिका ?"

शीघ्रता से कुसुमिका ने उत्तर दिया—"नहीं, नहीं, व्यथा क्यों पाऊँगी ? आपकी दया और उदारता का कोई अन्त नहीं है ! सहसा एक बात मेरे मन में आ गई थी।"

रत्नेश्वर ने कहा—"तुम्हारे मन में क्या बात आई थी, किस बात पर तुम्हें वेदना मिली, यह जानने का मुझे कोई अधिकार नहीं है। खैर, तो चलो अपने उस घर को तुम्हें दिखा दूं। यहाँ से अधिक दूर नहीं है। चलो, मन में कोई शंका न करो। तुम साधुशीला लग रही हो। मैं चाहे जितना मुग्ध होऊँ, साधुशीला स्त्री की मर्यादा मैं कभी भी नही भूलूंगा। चलो !"

"तो चलो। चन्द्रिका, तुम्हारी क्या राय है ?"

"चलो।"

(२)

चन्द्रिका बोली—"एक वर्ष के भीतर तुम्हारी प्रतिज्ञा पूरी हो गई, रत्नेश्वर श्रेष्ठी फकीर हो गया अब क्या करोगे ?

कुसुमिका ने ठण्डी साँस लेकर उत्तर दिया—"क्या सचमुच ही प्रतिज्ञा पूरी हो गई है, चन्द्रिका ?"

"अब बाक़ी क्या है ? सुना है कि रत्नेश्वर के पास अब कुछ भी नहीं है। उसने अपना सर्वस्व तुम्हें दे दिया है। एक वर्ष पहले इस उज्जैन के श्रेष्ठी-समाज में वह दौलत में सब से बड़ा था।"

"पर दौलत भी कभी उसका सर्वस्व नहीं थी। मैंने उसकी सब दौलत ले ली है, इससे उसकी ऐसी क्या क्षति हुई है ?"

"कुछ दिनों के बाद वह अनुभव करेगा, जब भूख में उसे अन्न नहीं मिलेगा और लोगों के पास हाथ फैलाना पड़ेगा।"

गम्भीर स्वर में कुसुमिका ने कहा—"जिसकी देह में बल है, जिसमें बुद्धि है, जिसके संकल्प में दृढ़ता है, हृदय में महानता है, वह पैतृक राज्य खोकर भी अन्न के लिये लोगों से भीख नहीं माँगता है। वह अपनी रोटी मेहनत से कमा सकता है !"

चन्द्रिका बोली—"जो पैतृक सम्पदा का चैन से उपभोग कर सकता था, मेहनत के थोड़े से अन्न से क्या वह कभी सुखी हो सकता है।"

"सभी नहीं होते हैं, पर जो महान् है, वह पैतृक दौलत के अनायास-उपभोग की अपेक्षा श्रम से पाये थोड़े से अन्न को अधिक सुखदायक समझता है।"

"रत्नेश्वर में वह महानता है, यह तुम कैसे समझीं ?"

"कस्तूरी की गन्ध स्वयं ही प्रकट हो जाती है, किसी की घोषणा की अपेक्षा नहीं रखती है। उसने अपनी बेशुमार दौलत त्यागी की तरह बिखेर दी है, कभी हिचकते नहीं देखा। अब उसका सब कुछ चला गया है, फिर भी उसमें कुछ भी परिवर्त्तन या दुःख का चिह्न नहीं दीखता है। ऐसे त्यागी की महानता को कोई भला अस्वीकार कर सकता है ?"

चन्द्रिका ने मुस्करा कर कहा—"त्यागी ! किस देवता की, किस धर्म की उसने पूजा और साधना की है ? प्रेम देवता की न ? दुनिया के और भी अनेक लोग इस साधना में अपना सर्वस्व दान कर देते हैं !"

कुसुमिका ने उत्तर दिया—"चाहे किसी की भी पूजा और साधना करे, साधना में जो सर्वस्व दान कर देता है, दे कर धन्य होता है—कभी पश्चात्ताप नहीं करता है—वही उत्तम साधक है। और सब भोगी धनियों के बेटे, जो भोग

में अपना सर्वस्व खोकर पश्चात्ताप में जलते रहते है, उनसे क्या रत्नेश्वर की तुलना की जा सकती है, चन्द्रिका ! वे देते नहीं हैं, वे धन के वदले में भोग खरीदते है ! रत्नेश्वर ने केवल दिया ही है, वदले में कुछ भी नही माँगा है !"

"हाँ, यह तुम कह सकती हो। एक वर्ष से उसने विना हिचक तुम्हें अपना धन दिया है। लोग बदले मे जो चीज माँग कर इस तरह से धन बहाते हैं, उसने ऐसा कुछ भी नहीं माँगा है। और इसमें शान्त आनन्द के सिवाय अशिष्ट, उद-ण्डता या उग्रता कभी भी उसके व्यवहार में प्रकट नही हुई है। सौन्दर्य से मुग्ध पुरुष के लिये यह धीरता और सयम असाधारण जरूर है।"

"वह मेरे सौन्दर्य पर मुग्ध नहीं है, चन्द्रिका। उसने मुझसे प्रेम किया है। वह महान् है, उसने महान् की तरह ही लालसाहीन होकर केवल प्रेम ही किया है।"

"लेकिन सौन्दर्य के आकर्षण से ही तो वह पास आया था। तुम्हारे कुरूप होने पर, क्या वह तुम्हारी ओर आँखें उठाता ?"

"यह बात सही है। पर देह की सुन्दरता के मोह से ही लोग पहले आकर्षित होते है। फिर देह के सौन्दर्य में यदि हृदय का कुछ सौन्दर्य दीखता है, तभी शायद मनुष्य सुन्दर से प्रेम करता है, तब सौन्दर्य का मोह और भोग की लालसा शायद दूर हट जाती है। पर मैं यह समझ नही पाती, चन्द्रिका, उसने मुझमें क्या सौन्दर्य देखा, जिससे वह मुझसे इतना प्रेम करता है ? मैं तो उसका नाश करने के लिए ही यहाँ आ गई थी। जब प्रथम भेंट हुई, तब तो उसके लिए मेरे हृदय में कुछ भी सुन्दरता नही थी !"

मुस्करा कर चन्द्रिका ने कहा—"तुम चाहे कोई भी मशा लिये आई हो, भेंट में सुन्दर देख कर, उस सुन्दरता में और भी सुन्दर कुछ अनुभव कर के, तुम्हारा हृदय भी तब सुन्दर हो उठा था। प्रथम भेंट की हर बात-चीत से मुझे यह लगा था। जानती हो, अगर हृदय में सत्य सुन्दरता रहे, तो छल कर के कोई उसे बिल-कुल दबा नहीं रख सकता है। खैर, अब क्या करना चाहती हो ? देख रही हूँ कि उसे फकीर बना कर भी तुम्हें सन्तोष नही हुआ। तुमने उसकी धन-दौलत ले ली है, अब और क्या लेना चाहती हो ?"

"और भला क्या ले सकती हूँ ! उस महान् धन को, जिस धन से वह धनी है, जिसके अधिकार से मनुष्य जीवन में वह धन्य है, वह लेकर उसे दुखी करूं मुझसे यह साध्य नहीं है और न किसी का है !

उसका सर्वस्व नाश करने के लिये आकर मैंने उसके सर्वस्व का गौरव ही बढ़ा दिया है, चन्द्रिका !"

"और तुमने अपना सर्वस्व भी खो दिया ! तब अब उसके सर्वस्व से अपना सर्वस्व अदल-बदल कर लेना। बस, कहने भर की ही तो देरी है !"

कुसुमिका ने एक ठण्ढी साँस छोड़ कर कहा—"सोचती हूँ कि मैंने क्या कर डाला ! क्यों यहाँ आई ? क्यों मैंने यह हीन प्रतिज्ञा की ?"

चन्द्रिका ने उत्तर दिया—"अब इन बातों को सोचने से क्या फायदा ? यह तभी सोचना चाहिये था। आग से खेलने पर हाथ अवश्य जलता है।"

कुसुमिका ने और कुछ नहीं कहा। तब सन्ध्या हो रही थी। वह खिड़की से उदास, दुखी दृष्टि से डूबते सूर्य की गुलाबी किरणों की ओर देखती रही। चन्द्रिका कुछ समय तक रह कर फिर दबी मुस्कान भरे चेहरे से कमरे से बाहर चली आई।

(३)

"कुसुमिका, मैं इतने दिनों तक बड़े आनन्द से उज्जैन में रहा। जभी इच्छा हुई, तुम्हें देख पाया, तुम्हारे गाने सुने और इच्छानुसार तुम्हें उपहार दे कर तृप्ति पाई। किन्तु आज मुझे उज्जैन छोड़ कर जाना पड़ रहा है, शिव तुम्हारा भला करें, दास को आज विदा दो !"

"कहाँ जाओगे, रत्नेश्वर ? क्यों जाते हो ?"

"अपनी जीविका अर्जन करने की आवश्यकता आ पड़ी है। श्रेष्ठी-पुत्र होने पर भी व्यापार की ओर कभी भी मेरी रुचि नहीं थी, मैंने अस्त्र-विद्या ही सीखी है। उज्जैन-राज युद्ध में जा रहे हैं, मैं भी एक सैनिक होकर उनके साथ जा रहा हूँ।"

"जीविका के लिये युद्ध में जाओगे, रत्नेश्वर ? जिसमें पग-पग में जीवन-नाश की सम्भावना है, वैसे काम में कोई समर्थ बुद्धिमान् जीविका अर्जन करने जाता है ? जीविका का क्या और कोई रास्ता नहीं है ?"

"और भी अनेक रास्ते हैं। लेकिन योद्धा की वृत्ति भी पुरुष की एक प्रधान वृत्ति है; मेरी भी बड़ी प्रिय कामना है। मेरा चित्त भी उस ओर बहुत आग्रह से आकर्षित हुआ है। इसमें जितना उत्साह मिलेगा, इसमें मुझे जितना आनन्द

मिलेगा उतना और किसी भी काम में नहीं मिलेगा। जीविका के लिये मेहनत करनी पड़े, तो जिसमें मुझे अधिक आनन्द मिलेगा, वही मैं करूँगा।"

"लेकिन फिर भी जीविका के लिये लड़ाई में जाओगे ! हाँ, जब दुश्मन के वार से देश विपद-ग्रस्त होता है, तब हथियार लेकर सब पुरुषों को युद्ध में जाना पड़ता है, शायद कभी-कभी स्त्रियों को भी जाना पड़ता है। पर तुम जीविका के लिये सैनिक होकर युद्ध में जाओगे ? जीवन के लिये ही जीविका है। जीविका के लिये जीवन को युद्ध की आग में सौंप दोगे ? कौन जानता है कि अगर. . ।"

मुस्करा कर रत्नेश्वर ने कहा—"अगर मृत्यु हो जाय, तो हो ! हानि क्या है ? कब और कहाँ मृत्यु नहीं हो सकती है ? जब समय पूरा हो जायगा, तब मरना ही पड़ेगा। विधाता ने जहाँ जिस तरह की मृत्यु निर्दिष्ट की है, वहीं उसी तरह मरना है। इसके लिये जो सोचता है, डरता है, वह बहुत ही मूढ़ है !"

कुसुमिका ने एक साँस दबा कर कहा—"रत्नेश्वर, मैंने सुना है कि अपनी सारी सम्पदा मुझे देकर तुम बिलकुल फ़क़ीर हो गये. . ."

"यह बात क्यों उठा रही हो, कुसुमिका ? देकर मुझे जो आनन्द मिला है, उसकी तुलना में यह दान बहुत ही तुच्छ है !"

"फिर भी, उसके लिये ही न तुम जीविका-अर्जन करने को बाध्य होते हो, और उसके लिये ही युद्ध में जा रहे हो ? यदि तुम्हारी सम्पदा रहती, तो क्या तुम जाते ?"

"जीविका के लिये नहीं जाना पड़ता, पर आनन्द के लिये शायद जाता। जिसने अस्त्र-विद्या आग्रह के साथ सीखी है, वह युद्ध के आह्वान से सहज ही प्रलुब्ध हो जाता है। मृत्यु के भय से उससे पीछे हटना पौरुष नहीं है।"

कुसुमिका कुछ समय तक कुछ सोचती रही, फिर बोली—"रत्नेश्वर ! यदि तुम्हारे पास धन कुछ बच रहता, मुझे तुम इच्छानुसार उपहार दे पाते, —तो क्या आज मुझे छोड़ कर इस शौक के युद्ध में जाते ?"

रत्नेश्वर के चेहरे पर मलीन मुस्कान खिल उठी। बोला—"वह हालत तो अब नहीं है, कुसुमिका ! रहने पर मन मुझे किस ओर खींच ले जाता, यह किसे पता है ?"

"मेरे विचार में तब तुम नहीं जाते

फिर उसके चेहरे पर मलीन मुस्कान खिल उठी छलछलाये नयनों से कुसुमिका की ओर देखते हुये उसने कहा—"मुझसे भी अधिक मेरा चित्त तुम इतना समझ चुकी हो, कुसुमिका ! खैर, अब तो मैं लड़ाई में जा रहा हूँ, मुझे जाना ही पड़ेगा।"

कुसुमिका की आँखें और चेहरा एक तीव्र वेदना से जल उठे। वेदना से क्षुब्ध तथा उत्तेजित स्वर में कहा—"रत्नेश्वर ! तुम ऐसे महान हृदय के हो, इतने बुद्धिमान् हो, इस हीन नाचने वाली की छलना में भूल कर क्यों उसे अपना सर्वस्व सौंप दिया ? बदले में भी तुम्हें कुछ नहीं मिला !"

रत्नेश्वर ने गम्भीर स्वर से उत्तर दिया—"कुसुमिका ! छिः ! यह सब क्यों कह रही हो ? मैं पहले कभी सोच भी नही सका था कि दुनिया में तुम्हारी तरह साधुशीला और उच्च-चरित्र की स्त्री रह सकती है ! इस दुनिया में ऐसी एक स्त्री का साक्षात् मिला है, यही तो मेरा यथेष्ट पुरस्कार है, कुसुमिका !"

"हाँ, जो स्त्री छल कर के, ठग कर तुम्हारा सर्वस्व हर कर आज तुम्हें मृत्यु के पंजे में छोड़ रही है, वह जरूर असाधारण, साधुशीला और ऊँचे चरित्र की है। उसने उत्तम पुरस्कार तुम्हें दिया ?" कहते-कहते कुसुमिका रो-सी पड़ी।

"छिः, कुसुमिका ! तुम क्यों इन बातों से क्षुब्ध हो रही हो ? और क्यों ये सब बातें कह कर मुझे दुःखित कर रही हो ? क्या तुमने छल के द्वारा मेरा धन हर लिया है ? मैंने तुम्हें जो कुछ दिया है, सब अपनी इच्छा से, हृदय के सहज आनन्द से दिया है। एक क्षण के लिये भी कभी अनुताप नहीं किया है, आज भी मैं अनुतप्त नही हूँ। इस धन के बदले में तुम मुझे क्या दे सकती थीं? जो दे सकती थीं, वह न पाकर ही मैं सुखी और धन्य हूँ। यदि पाता, तो पता नही किस दृष्टि से तुम्हें देखता, मन में जाने कैसी ग्लानि होती ! आज तुम एक देवी के रूप में मेरे हृदय-मन्दिर में बैठी हुई हो। यदि वह पाता, तो कदाचित सूखे फूल के हार की तरह तुम मेरे पैरों के नीचे धूल में पड़ी रहती। तुम्हें सर्वस्व देकर मैं आज आनन्दित हूँ, बाधित हूँ। यदि पाता, तो कदाचित तुम्हारे प्रति गहरी घृणा के घुन से मेरा चित्त खोखला होता। कुसुमिका ! तुम से अब तक नही कहा है, तुम्हें प्रलुब्ध करने लायक दौलत अब मेरे पास कुछ भी नहीं है, इसीलिये आज तुमसे कह रहा हूँ—तुम से सचमुच ही मैं बहुत प्रेम करता हूँ। प्रथम दिन

तुम से मेरा साक्षात् हुआ था, तुम्हारे सौंदय और संगीत की मधुरता से ही मैं मुग्ध हुआ था, किन्तु उसी समय मेरा हृदय तुम्हारे हृदय के, जाने कैसे, एक अलौकिक सौन्दर्य और मधुरता से आकर्षित हुआ था, यह मैं किसी भी शब्द के द्वारा ठीक-ठीक प्रकट नहीं कर सकता। बाहर और भीतर तुम इतनी सुन्दर, इतनी मधुर लगी थी, कि सारे हृदय से पूर्ण रूप से तुम्हारे चरणों में अपने को समर्पण कर दिया था। तुम्हें देख कर मैं आनन्दित हुआ हूँ, तुम्हारी बात सुन कर मै प्रसन्न हुआ हूँ। पहले मेरे चित्त में जो लालसा जाग्रत हुई थी, वह उस अति मधुर आनन्द की अमृत-धारा में, दो दिन के भीतर जाने कितनी दूर हट गई, हृदय में उसका रत्ती भर भी स्पन्दन और कभी अनुभव नहीं किया। मैंने अपने हृदय-मन्दिर में प्रतिष्ठित देवी को जो प्रेम की डाली दी है, श्रद्धा की भेंट चढ़ाई है, उससे मुझे बहुत सुख, बड़ी तृप्ति मिली है। मेरे हृदय में किसी प्रकार के उपभोग की कामना नहीं थी, उसकी व्यर्थता के लिये एक दिन भी परिताप नहीं किया है।"

कुसुमिका ने रोकर दोनों हाथों से अपना मुख ढँक लिया।

"रो रही हो! तुम रो रही हो, कुसुमिका! क्या सचमुच ही मैंने तुम्हें दुःखित किया है?"

रत्नेश्वर ने धीरे-धीरे बढ़ कर अपने स्नेह से, कोमल हाथ से कुसुमिका के दोनों हाथ हटा कर उसके आँसू पोंछ दिये। कुसुमिका और अपने को सँभाल नहीं सकी। वह ज़ोर से रो पड़ी; उसने रत्नेश्वर के वक्ष में अपना मुख रख कर उसका कंठालिंगन किया। रत्नेश्वर ने भी अपनी सबल बाहों से घेर कर उसे अपनी विशाल छाती में दबा लिया। आँसुओं से उसके गालों पर पड़े बाल भीग गये। कुछ क्षणों के बाद कुसुमिका अपने को सँभाल कर रत्नेश्वर की बाहों से अलग होकर कुछ दूर हट गई। चादर के छोर से आँखें पोंछ कर, अपने को और स्थिर कर के अन्त में बोली—"रत्नेश्वर! तुमने अपने महान् हृदय के प्रेम को मेरी-जैसी स्त्री को समर्पण कर के बहुत भूल की है। तुम जानते नहीं हो कि मैं कितनी छली हूँ! छल का नाटक रच कर तुम्हारा सर्वस्व हर लेने के लिये, तुम्हें भिखमंगा बनाने के लिये ही मैं उज्जैन में आई थी।"

रत्नेश्वर चौंक उठा। बोला—"अच्छा तो तुम कौन हो? क्यों मुझसे दुश्मनी की? क्या अनजान से मैंने कभी तुम्हारी कोई भारी क्षति की है? तुम्हें...तुम्हें इससे पहले कभी देखा भी है, ऐसा तो नहीं लगता!"

कुसुमिका न कहा– जिस दुश्मनी का बदला लेन के लिय आई थी वह दुश्मनी तुम्हारी नही। तुमने कभी भी मेरी कोई क्षति नही की है।"

"तब यह रहस्य क्या है ? किस बात की—किसकी यह दुश्मनी है ? मैं तो कुछ भी नहीं समझ पा रहा हूँ। मुझे तो कुछ भी याद नही पड़ रहा है।"

"कदाचित तुम कुछ भी नहीं जानते हो। इसीलिये याद नही पड़ रहा है।"

"तुम यदि जानती हो, तो क्या कृपया कहोगी ?"

"कहने पर तुम्हें...तुम्हें बहुत दुःख मिलेगा, रत्नेश्वर !"

"अप्रिय होने पर भी जो सत्य है, वह मैं जानना चाहता हूँ। तुम निस्संकोच हो कर कहो।"

"अच्छा, तो सुनो। कहने पर, मैं भी इस अपराध से कुछ छुटकारा पा जाऊँगी।"

"तो कहो, कुसुमिका !"

कुसुमिका बोली—"तुम्हारे पिता आर्य धनेश्वर श्रेष्ठी बड़े ही चतुर और बुद्धिमान वणिक् थे।"

"हाँ, ऐसी ही उनकी प्रसिद्धि थी।"

"कुछ वर्ष पहले किसी दुर्घटना से उनका सर्वस्व नष्ट हो गया था। है न ?"

"हाँ ! तुम बालिका हो, मैं नहीं जानता कि कहाँ, किस भाव से तुम्हें यह खबर मिली है। वे मिश्र देश में बहुत चीजें भेजते थे। उस वर्ष बिक्री से पाये सारे धन के साथ उनका प्रधान जहाज स्वदेश लौट रहा था। किन्तु पश्चिम समुद्र मे तूफान से वह डूब गया। घर में जो कुछ धन रहा, सब पाने वालों ने ले लिया। तब वे एकदम फ़कीर हो गये।".

"फिर कुछ दिनों के भीतर वे बहुत धन के मालिक हो गये थे, न ?"

"हाँ।"

"क्या तुम्हें मालूम है कि कैसे उनको यह अतुल धन मिल गया ?"

"सुना था कि कही से गुप्त धन पा गये थे।"

"गुप्त धन नही, रत्नेश्वर, किसी मित्र का धरा हुआ धन।"

चकित रत्नेश्वर ने व्यथित स्वर से कहा—"मित्र का धरा हुआ धन ! तो...तो पिता जी ने क्या...वह मित्र कौन है, कुसुमिका ?"

"कन्नौज के शिवदास श्रेष्ठी।"

"फिर ?"

"शिवदास तुम्हारे पिता के बहुत ही घनिष्ट मित्र थे। कुछ वर्षों तक निश्चिन्त होकर तीर्थ करने के लिये उन्होंने अपना सारा माल बेंच कर सब धन इकट्ठा किया था। विपद-ग्रस्त होकर तुम्हारे पिता ने शिवदास के निकट सहायता माँगी। शिवदास ने अपना सारा धन मित्र धनेश्वर को दे कर कहा, 'इसे लेकर तुम व्यापार करो। दो-तीन वर्ष में मैं लौट आऊँगा। तब जितना दे सको देना, फिर क्रमशः कर्ज अदा करते रहना। अब मुझे व्यापार करने की इच्छा नही है। अपनी एक मात्र कन्या के लिये यह धन काफी है। तीन-चार वर्ष में धन पा जाने पर भी मुझे कोई असुविधा नहीं होगी'।"

"फिर ? शिवदास श्रेष्ठी के वापस आने पर कदाचित पिता जी ने धरा धन नही लौटाया, है न ?"

"हाँ ! उन्होंने अस्वीकार किया, कहा कि उनके पास कोई धन नहीं रक्खा गया था। कोई लिखा-पढ़ी नहीं थी, कोई गवाह भी नहीं था।"

"तब शिवदास ने क्या किया ?"

कुसुमिका ने कहा—"शिवदास की एक मात्र कन्या के सिवाय इस पृथ्वी में कोई बन्धन नहीं था। उनका यह धन कन्या के लिये ही था। फिर... फिर..." कहते-कहते कुछ लज्जित-सी होकर उसने अपना मुंह दूसरी ओर फेर लिया।

"फिर क्या हुआ, कुसुमिका ?"

उसने आँखें नीची कर के कुछ सशंकित भाव से कहा—"तब श्रेष्ठी शिवदास ने बहुत विनती कर के अपने मित्र से कहा कि 'मेरी कन्या से अपने पुत्र का विवाह कर दो, मैं सन्तोष के साथ किसी तीर्थ में जाकर भगवान की पूजा में अन्तिम जीवन बिता दूंगा'।"

"पिता जी ने शायद मित्र की उस प्रार्थना को स्वीकार नहीं किया !"

"हाँ ! थोड़े दिनों के बाद शिवदास की बहुत ही ग़रीबी में—दुख और तंगी में—मृत्यु हो गई। एक मात्र प्यारी कन्या को ऐसी असहाय परिस्थिति में छोड़ जाने के लिए वे बहुत ही दुखी हुए थे। उन्होंने कहा था—'धनेश्वर ने

विश्वास घात कर के मेरा सब धन लेकर मेरा बच्ची को भिखारिणी कर दिया। उसका पुत्र भी क्या सर्वस्व खोकर ऐसा भिखारी नहीं होगा ? इस समय ये बातें स्मरण करने में भी पाप है। किन्तु फिर भी कहता हूँ यदि कोई उसका सर्वस्व हर कर उसे फ़कीर बना सके, तो परलोक में मुझे कुछ सान्त्वना मिलेगी। पर हाय, मेरे तो कोई नही है ! यदि मेरे एक पुत्र रहता, तो कह जाता, कि उससे बदला लेना'।"

तब रत्नेश्वर ने एक ठण्ढी साँस लेकर कहा—"समझ गया, कुसुमिका, कि तुम उस शिवदास श्रेष्ठी की कन्या हो। कन्या होकर भी तुमने पुत्र की तरह उनकी अन्तिम इच्छा को पूरी करने की चेष्टा की है।"

नीची दृष्टि किये कुसुमिका बोली—"हाँ, रत्नेश्वर, मैं ही शिवदास की वह अभागी कन्या पुष्पवती हूँ। पिता जी के निकट प्रतिज्ञा की थी कि उनकी इच्छा पूर्ण करूँगी ! मै नाशकर स्त्री हूँ, जिस शक्ति के द्वारा स्त्री पुरुष का नाश कर सकती है, पिता जी की इच्छा पूर्ण करने के लिये मैंने उसी शक्ति से काम लिया था। किन्तु स्त्रियों के लिये यह बहुत हीन शक्ति है। मैंने अपने को बहुत ही हीन कर दिया है। इसीलिये तुम्हारे सामने मुंह उठाने में मुझे बड़ी लज्जा हो रही ह। रत्नेश्वर ! मैंने तुम्हारी दौलत हर ली है; किन्तु इस दुनियावी दौलत से बहुत बडी, जिस महानता के धन से तुम धनी हो, तुम्हारी दौलत हर कर उसे और भी बढा दिया है। तुम्हारा वह धन कभी भी कोई नही हर सकेगा—उसके अभाव से जो दुख है, वह भी तुम्हें कोई नहीं दे सकेगा। मेरी हीन चेष्टा व्यर्थ हुई, जीतने के लिये आकर मैं स्वयं हार गई हूँ। हार कर तुम्हारे पैरों की धूल में लोट गई हूँ। तुम अपनी दौलत वापस ले लो, रत्नेश्वर ! इस अनुतापित, हीन, पापिनी को क्षमा कर दो ! मैं चली जाऊँ। अब पिता जी पुण्यमय स्वर्ग में हैं, अब वहाँ उनके चित्त में बदले की वासना नहीं है, बल्कि वे मेरी इस हीनता से बहुत व्यथित हो रहे है। तुम्हारी दौलत तुम्हें मिल जाने पर वे सुखी होंगे। बहुत दुख के मारे अन्तिम समय में उनके मन में यह बदले की बात आई थी। नहीं तो वे बहुत ही ऊँचे और उदार थे।"

रत्नेश्वर ने कहा—"यह सम्पदा मैं किस अधिकार से ले सकता हूँ, कुसुमिका ? यह कभी भी मेरी नही थी। जो दिया है—चाहे जिस तरह हो—

असली अधिकारिणी हो को दिया ह तुम्हारा धन फिर तुम्हे मिल गया, मेरे पिता कर्ज से छुटकारा पा गये, मुझे इसी में सुख है । न जान कर, अपना सोच कर, तुम्हें देकर मैं धन्य हुआ था । मैं आज उससे भी अधिक धन्य हूँ । पिता के पुत्र के रूप में मेरी प्रार्थना है कि तुम उनको क्षमा करो ! परलोक में पाप से मुक्त होकर उनको शान्ति मिले ।"

"नहीं, रत्नेश्वर ! इस धन के लिये मेरी कोई इच्छा नहीं है । मैं इसे ले भी नहीं सकती । मैं इस धन का क्या करूँगी ?"

रत्नेश्वर ने कहा—"केवल उपभोग में ही धन सार्थक नही होता है; लोक-सेवा में उसकी सार्थकता बहुत अधिक है ! अच्छा, अगर उपभोग के लिये नही लेना चाहती हो, तो जन-सेवा के लिये दान कर दो ।"

"मैंने कर दिया । शिव की इच्छा पूर्ण हो ! तुम्हारे और मेरे पिता इस दुनिया में मित्र थे । वे परलोक में भी वैसे ही मित्र हों । उन दोनों का धन जन-सेवा में ही सार्थकता पा जाये ! जन-सेवा ही भगवान की सेवा है ! भगवान के आशीर्वाद से उनको शान्ति मिले ।"

"मै धन्य हो गया, कुसुमिका ! तुम आज स्वयं फ़क़ीर हो; मैं भी फ़क़ीर हूँ । एक प्रार्थना है, सुनोगी ! चाहे किसी कारण से, तुम्हारे पिता ने इच्छा की थी कि तुम्हारे साथ मेरा विवाह हो । क्या तुम वह इच्छा पूर्ण करोगी ? युद्ध से वापस आने पर मेरी पत्नी होगी ?" कह कर रत्नेश्वर ने कुसुमिका का हाथ पकड़ कर आकुल दृष्टि से उसकी ओर देखा ।

आँसू-भरे नयनों से कुसुमिका ने उत्तर दिया—"यदि दया करना चाहते हो, तो वापस आने पर नही, जाने के पहले ही दासी को अपना लो । पता नहीं, शिव के मन में क्या है ! पहले ही दासी का अधिकार देकर मुझे धन्य करो !"

आवेग से रत्नेश्वर ने कुसुमिका को हृदय में दबा लिया ।

काजी का फैसला

संसार-प्रसिद्ध आरव्योपन्यास के नायक हारूँ-उल-रशीद ने एक दिन राज-सिंहासन पर बैठ कर सभासदों से प्रश्न किया—"लड़की और पतोहू में स्त्रियाँ किसको ज्यादा प्यार करती हैं ?"

सभासद अपना-अपना विचार प्रकट करने लगे। किसी ने कहा—"कन्या से पुत्र को सभी ज्यादा प्यार करती हैं, इसलिये पतोहू ज्यादा प्यार की अधिकारिणी है।" किसी ने इसका प्रतिवाद करते हुए कहा—"चूंकि पतोहू दूसरे के घर की लड़की है, इसलिए कन्या को सभी ज्यादा प्यार करती हैं।" किसी ने कहा—"पतोहू दूसरे घर की लड़की होने पर भी पास रहती है, और कन्या दूसरे के घर में चली जाती है, इसलिये पतोहू पर ज्यादा स्नेह होता है।" कुछ लोगों ने ठीक इसी युक्ति द्वारा इस विचार का खण्डन करते हुए कहा—"जो सदा पास में रहे उस पर ज्यादा स्नेह पैदा नहीं होता; जो आँखों से बाहर रहता है, उसी पर स्नेह ज्यादा हो जाता है।" इस तरह का तर्क छिड़ जाने पर प्रश्न हल न हो सका, बल्कि और जटिल हो गया।

एक समझदार बूढ़े सभासद शुरू से ही चुप-चाप बैठे थे। खलीफा ने उनसे पूछा—"मौलवी साहब, आप अपनी राय क्यों नहीं दे रहे हैं ?"

खलीफ़ा के कथन से अपने को बहुत सम्मानित समझ कर बूढ़े ने बड़ी नम्रता के साथ कहा—"ऐ शाहंशाह ! औरतें पतोहू से लड़की को ज्यादा प्यार करती हैं। प्रणाम-स्वरूप मुझे एक कहानी मालूम है, आज्ञा हो तो मैं कह सकता हूँ।"

खलीफ़ा की आज्ञा होने पर मौलवी साहब कहानी कहने लगे—

"बहुत दिन पहले किसी शहर में एक बुढ़िया रहती थी। उसके एक पुत्र और एक कन्या थी। पतोहू का नाम वजीहन और लड़की का नाम जहूरन था। दोनों ने एक ही दिन एक ही साथ बच्चे प्रसव किए। तब तक धात्री नहीं पहुँची थी। बुढ़िया ने देखा कि पतोहू के लड़का हुआ है, और लड़की के एक कन्या हुई है। विधवा को यह बहुत बुरा मालूम हुआ। वह वजीहन के लड़के को जहूरन

के कमरे में और जहूरन की लड़का को वजीहन के कमरे में चुपचाप रख आई मकान में तब और कोई नही था। कन्या और पतोहू दोनों बेहोश पड़ी थीं। परमात्मा के सिवा कोई भी इस काम का गवाह नही रहा।

"दो साल बीत गये। वजीहन लड़की को और जहूरन लड़के को पाल रही थीं—किसी के मन में जरा भी सन्देह पैदा नही हुआ।

"एक दिन शाम को वजीहन अपने कमरे में नमाज पढ़ रही थी। उसकी लड़की कही खेलने के लिए गई थी। जहूरन का लड़का नाचते-नाचते वहाँ आ पहुँचा। ईश्वर की लीला को कौन जान सकता है? एकाएक वजीहन के मन में यह बात आई—'यह लड़का मेरा ही है।'

"उसी दिन से उस लड़के पर वह निगाह दौड़ाने लगी। बालक के प्रत्येक अंग, गठन और शरीर का संचालन जितना ही वह लक्ष करने लगी, उतना ही उसका अपने पति के साथ मेल-जोल दीख पड़ने लगा। एक दिन उसने सास से ये बातें कहीं। सास ने आँखे दिखला कर जवाब दिया—'फिर कभी ज़बान पर ये बाते तू लाई कि तेरी ज़बान को मैं गरम लोहे से जला दूंगी।' इस तरह कहने पर वजीहन का सन्देह और भी बढ़ गया और धीरे-धीरे विश्वास हो गया कि सास ने बदल दिया है। आखिर एक दिन शहर के क़ाज़ी साहब के पास जाकर उसने सब बातें कही। क़ाज़ी ने पूछा—'कोई गवाह है?'

"वजीहन ने कहा—'गवाह एक परमात्मा है, और दूसरा मेरा मातृ-हृदय।' क़ाज़ी साहब बड़े चक्कर में पड़े। इस हालत में इस मामले को किस तरह से तय करें—इसी सोच-विचार में पड़ गए। दो-चार ही दिन में ये बातें चारों ओर फैल गई। सुल्तान के कानों तक भी ये बातें पहुँच गई। वे भी औरों की तरह बड़े उत्सुक हो कर क़ाज़ी का फ़ैसला सुनने की प्रतीक्षा करने लगे। दो-तीन महीने बीत गये, फिर भी मामला ज्यों का त्यों रह गया। आखिर सुल्तान ने यह हुक्म दिया कि 'तीन महीने के अन्दर अगर इस मामले का फ़ैसला न हो जाय, तो क़ाज़ी को निर्वासित कर दिया जायगा और उनकी सब जायदाद छीन ली जायगी।'

"यह सुन कर क़ाज़ी साहब बड़े घबराए। उन्होंने सोचा—'मुझे तो देश निकाला दिया ही जायगा, इसलिये यह बेहतर होगा कि मैं पहले से फ़क़ीरी ले कर चल दूं। अगर परमात्मा की कृपा होगी, तो इस मामले को हल कर के लौटूंगा,

नहीं तो मक्का जाकर अपने अन्तिम दिन काट दूँगा। यह सोच कर क़ाज़ी घर से निकल पड़े। पैदल घूमते-घूमते एक गाँव से दूसरे गाँव में, एक शहर से दूसरे शहर में, पहाड़, नदी, जंगल पार करते हुए जाने लगे। अठारवें दिन शाम को वे एक ग़रीब किसान के घर गये और एक रात्रि के लिए रहने की जगह की प्रार्थना की। किसान के पास सिर्फ़ एक ही कमरा था, जिसमें वह अपने बाल-बच्चे लेकर रहता था। अतिथि से उसने कहा—'जनाब, अगर आप गौशाला में रात्रि काट सकें, तो ठहर सकते हैं।' क़ाज़ी ठहर गए।

"वे बहुत थके हुए थे। किसान का दिया हुआ दूध पीकर वे सो गये। अर्द्ध-रात्रि में उनकी नींद टूटी। पृथ्वी के सभी अभागे व्यक्तियों की तरह वे भी उस गहरी अँधेरी रात्रि में अपने भविष्य की चिन्ता करने लगे। कुछ देर के बाद कई हथियारबन्द डाकू उस गौशाला में आये। दो गाय और दो बच्चे बँधे हुए थे, उनमें से एक गाय और एक बच्चा चोरी कर ले गए। डाकुओं के चले जाने के पश्चात् बँधी हुई गाय और बछड़ा रोने लगे। गाय ने कहा—'हाय मेरा बच्चा!' और बछड़े ने कहा—'हाय मेरी माँ!' इस प्रकार दोनों रोने लगे। क़ाज़ी विद्वान थे और जानवरों की बोली को समझ सकते थे। वे इस तरह के रोने का कारण न समझ कर, आश्चर्यान्वित हो रहे थे। इतने में उन्होंने सुना, गाय कह रही थी—'बेटा, तेरी माँ चली गई है; मेरा बछड़ा चला गया है; तू मेरे बच्चे की तरह मेरे पास रह जा। तेरी माँ बन कर मुझे कुछ ढाढ़स मिलेगा।' बछड़े ने कहा—'तुम मुझे क्या खिलाओगी? तुम्हारा बच्चा मादा था, मैं नर हूँ; तुम्हारे स्तन के कम दूध से मेरी भूख कैसे तृप्ति होगी?'

"यह बात सुनते ही क़ाज़ी के दिमाग़ में बिजली चमक गई। उन्होंने सोचा, 'परमात्मा ने स्त्रियों को दुर्बल और पुरुषों को बलवान बनाया है। दोनों के लिये बराबर भोजन की जरूरत ही नहीं है। बिला जरूरत के कोई चीज इस सृष्टि में नहीं दीख पड़ती है। इसीलिये नर-बच्चा वाली गाय और मादा-बच्चा वाली गाय के दूध का परिणाम बराबर नहीं हो सकता।'

"अब वह समस्या पूर्ण मामला हल हुआ। सुबह की नमाज में क़ाज़ी परमात्मा को सैकड़ों धन्यवाद देकर खुशमिजाज घर लौटे। सुल्तान को उन्होंने सन्देशा भेजवाया कि वे उस मुक़दमें का फ़ैसला करने के लिये तैयार हैं। सुल्तान ने आज्ञा

दीं तुम मुद्दइ मुद्दाऽय और गवाह वगैरह को लेकर राजधानी में आकर सब के सामने फ़ैसला करो।'

"निश्चित दिन को क़ाज़ी दरबार में आ गये। राज्य के बड़े-बड़े लोग—अमीर-उमरा—सब हाज़िर हुए। कार्यवाही शुरू हो गई।

"आने के पहले ही क़ाज़ी ने एक सौ जानवरों को राजधानी में भेज दिया था। जानवर भी सभा में आए। सुल्तान ने कहा—'यह सब किस लिए?'

"क़ाज़ी बोला—'ये गवाह हैं।' सभी बड़े कौतूहल से क़ाज़ी की कार्यवाही देखने लगे। पहले मुद्दई वजीहन ने मुकदमें का सारा हाल कहा। मुद्दालय ने अपना क़सूर अस्वीकार किया। तब बुढ़िया धात्री की गवाही ली गई। उसने कहा—'शायद दोनों बच्चों के पैदा होने के आध घण्टे पीछे मैं पहुँची थी।' पड़ोसियों ने गवाही में कहा—'बच्चे होने के दूसरे दिन सुबह उन लोगों के कमरे में गए थे। वजीहन की गोद में लड़की और ज़हूरन की गोद में लड़का देखा था।'

"इसके पश्चात् क़ाजी ने कहा—'इन लोगों की गवाही तो खतम हो गयी। अब इन गूंगे जानवरों की गवाही ली जा रही हैं। माननीय सभासदगण तथा साधारण जन कृपया ध्यान दें।'

"जानवरों में से एक नर-बच्चा वाली गाय और एक मादा-बच्चा-वाली गाय को लाया गया। दोनों बच्चे बराबर उम्र के थे। दोनों गायों का दूध अलग-अलग जगह में दुहा गया और फिर नापा गया। सभी ने देखा, नर-बच्चा वाली गाय का दूध ज्यादा निकला। इसी तरह भैंस, बकरी, भेड़, गधा, ऊँट, हिरन वग़ैरह अनेक मादा जानवरों की जाँच की गई और हर एक नर-बच्चे वाली का दूध ज्यादा निकला।

"जाँच खतम होने पर क़ाज़ी कहने लगे—'ऐ विद्वान् और समझदार सभासदगण! आप लोग जानते ही होंगे कि परमात्मा ने स्त्रियों से पुरुषों को ज्यादा ताकतवर बनाया है। इसीलिए सभी प्राणियों की माताओं के स्तन में पुरुषों के लिए ज्यादा और स्त्रियों के लिए कम भोजन का प्रबन्ध कर रक्खा है। यह तो आप लोगों ने देख ही लिया है। अब (वजीहन और ज़हूरन को दिखला कर) इन दोनों औरतों के स्तनों का दूध तुलवा कर के देख लिया जाय। जिसका

दूध ज्यादा होगा उसी को लड़के की मां समझा जायगा इस प्रकार का फ़ैसला आप लोगों को स्वीकार है न ?'

"सभी ने कहा—'स्वीकार है।'

"दोनों औरतों का दूध नापा गया, और वजीहन का दूध ज्यादा निकला। सभा में वजीहन अपने लड़के को पा गई। ज़हूरन को उसकी लड़की वापस दी गई।

"सुल्तान इस प्रकार का फ़ैसला देख कर बहुत खुश हुए। अपने गले से एक अमूल्य हार निकाल कर क़ाज़ी साहब को पहिना दिया। थोड़े ही दिनों में उनकी प्रधान क़ाज़ी के पद पर तरक्की की गई।

"दास को यह सज़ा हुई कि उसे समुद्र के एक निर्जन टापू में छोड़ दिया गया।"

गुलाब का जन्म

रोजेटा एक किसान की लड़की थी। दुनिया में केवल उसकी एक बुढ़िया दादी थी। रोजेटा बहुत ही सुन्दर थी। उसकी बड़ी-बड़ी आकर्षक आँखें थीं, फूल की पंखुड़ी की भाँति पतले और गुलाबी ओंठ थे। चिकने रेशमी बाल उसके सुन्दर मुखड़े को घेरते हुए पीठ पर लहराया करते थे।

रोजेटा प्रति दिन झरने से जल लाने जाती थी। एक दिन वह जल भर कर झरने के पास एक पत्थर पर बैठ कर ज़रा सुस्ता रही थी, कि इतने में घोड़े पर सवार एक सुन्दर युवक वहाँ आया और अपनी प्यास शान्त करने के लिये रोजेटा से थोड़ा-सा जल माँगने लगा। रोजेटा ने उसी क्षण अपने घड़े से झरने का स्वच्छ और ठण्डा जल अंजली भर कर उसे पिलाया।

वह प्यासा युवक और कोई नहीं, उस देश के राजकुमार थे। रोजेटा के इस सरल और भद्र व्यवहार और उसके अनुपम सौन्दर्य पर वे बहुत मुग्ध हुये। उन्होंने रोजेटा के जल-भरे घड़े को खुद ले जाकर उसकी कुटिया में पहुँचा दिया। रोजेटा ने इसके लिये बहुत विनय के साथ अनेक धन्यवाद दिये।

कुमार राज-भवन लौट आये, मगर रोजेटा को नहीं भूल सके। रोजेटा के कोमल कण्ठ का स्वर उनके कानों में वीणा की भाँति गूंजता ही रहा। मनोरम सन्ध्या की मधुर चाँदनी में, झर-झर गिरते हुये झरने के पास, घड़ा लिये बैठी हुई प्रथम यौवन-स्पर्श से खिलती हुई सुन्दरी रोजेटा! . . . उसका वह चित्र उनके मानस-पट पर से हटता ही नहीं था।

फिर उस झरने के पास प्रतिदिन कुमार दीख पड़ने लगे। वे रोजेटा के पास बैठ कर बहुत देर तक गप-शप करते रहते। रोजेटा का मधुर स्वर मानो उन पर जादू कर देता था। रोजेटा के मना करने पर भी वे उसका घड़ा ढोकर कुटिया के आँगन तक पहुँचा देते थे। कुछ ही दिनों में रोजेटा की दादी से उनका परिचय हो गया, और वे बुढ़िया की मनचाही बातें कह कर उसे खुश करने लगे।

थोड़े दिनों के पश्चात् एक दिन कुमार ने रोजेटा की दादी से कहा कि रोजेटा से बहुत प्रेम करने लगे हैं और उससे शादी करना चाहते हैं।

बुढ़िया यह सुन कर खुश हुई और बोली—"मुझे कोई एतराज नहीं, अगर मेरी पोती राज़ी हो।"

मगर रोजेटा ने इस नव-परिचित युवक से शादी करने से इनकार कर दिया। उसे उस अंगूर की लताओं से ढँकी हुई कुटिया और बुढ़िया दादी से इतना प्रेम था कि उन्हें त्याग कर कहीं जाने के लिये वह राज़ी नहीं थी। कुमार ने तब अपना असली नाम बताया। वे ही राजसिंहासन के वारिस थे। रोजेटा देश की रानी बनेगी! फिर वे रोजेटा को किन-किन अलंकारों से भूषित करेंगे यह सब कहने लगे। उन्होंने और भी कितने ही लालच दिखाये। फिर भी रोजेटा राज़ी नहीं हुई। उसकी बुढ़िया दादी का उसके सिवाय और कोई नहीं था। वह किसके भरोसे इस बुढ़िया को छोड़ कर चली जाय? उसके पास न रहने पर बुढ़िया दादी का जीना भी असम्भव है।...रोजेटा ने रानी बनने का प्रलोभन त्याग दिया।

राजकुमार रोजेटा के इस व्यवहार से दुःखित और क्रोधित हुये। एक मामूली किसान की लड़की ने उनका प्रेम इतनी उपेक्षा के साथ ठुकरा दिया! उन्होंने अपने आपको बहुत अपमानित समझा और इस अपमान के लिये रोजेटा को सजा देना निश्चित कर राज-भवन लौटे।

इस घटना के बाद कुछ दिन और बीत गए। अब रोजेटा खुद अपना घड़ा लेकर अकेली ही घर लौटती। राह में चलते-चलते जब कभी उसे उस अज्ञात कुमार की याद आ जाती, तो उसे अपना घड़ा ज्यादा भारी मालूम होने लगता। उस दिन मानो उसकी घड़ा ढोने की शक्ति कम हो जाती।

एक दिन रोजेटा इसी तरह बड़ी कठिनाई से जल-भरा घड़ा ला रही थी। उस दिन झरने पर उसे काफ़ी देर हो गई थी; सन्ध्या बीत चुकी थी, चारों ओर अँधेरा हो रहा था। इतने में कई ताकतवर आदमी सहसा कहीं से आ कर रोजेटा को पकड़ कर ले चले। रोजेटा बहुत रोई, बहुत चिल्लाई, मगर कोई उसे बचाने के लिये नहीं आया। जो रोजेटा को पकड़ कर ले गये थे, वे सब राजकुमार के आदमी थे। रोजेटा को लाकर राज-भवन के एक कमरे में कैद किया गया।

कुमार इस बात की बहुत कोशिश करने लगे कि रोजेटा उनसे शादी करने को राज़ी हो जाय, मगर वह किसी तरह राज़ी नहीं हुई। तब कुमार के हुक्म से उसके आदमी उसे सताने लगे। रोजेटा चुपचाप उन लोगों के अत्याचार सहने

लगी। हार कर वे निर्दय लोग रोजेटा को शहर के मन्दिर में ले गये, और बहुत से लोगों को रिश्वत देकर उसके ऊपर कलंक लगाया।

मन्दिर के पुजारियों ने उसके अपराध का फैसला किया, और उसे दोषी मान कर जिन्दा जला देने का हुक्म दिया।

जिस दिन रोजेटा आग में जलाने के लिये शहर में लाई गई, उस दिन सारे नगरवासी उस भयानक दृश्य को देखने के लिये जमा हुये थे। चारों ओर काँटे-दार लकड़ियाँ लगा कर उसके बीच में रोजेटा को खड़ा कर दिया गया था। उस समय भी पुजारी लोग उसे अपना अपराध स्वीकार करने के लिये कह रहे थे। रोजेटा उस समय भी अविचलित स्वर से कह रही थी—"परमात्मा जानते हैं, मैं निर्दोष हूँ! मैंने कोई भी अपराध नहीं किया।"

लकड़ियों में आग लगाने के लिये बहुत से लोगों के हाथों में मशालें जल रही थीं। पुजारियों ने आखिरी बार उसे अपना अपराध स्वीकार करने के लिये मौका दिया, मगर रोजेटा की जबान पर वही एक शब्द था कि वह निर्दोष है। निर्दय पुजारियों ने तब रोजेटा को बहुत पापी बताया। उसको नरक में ज्यादा से ज्यादा दुःख देने के लिये ईश्वर से प्रार्थना की, और फिर फौरन उसे जलाने के लिये हुक्म दे दिया।

रोजेटा के चारों ओर ढेर की ढेर सूखी लकड़ियाँ बड़े जोर से जलने लगीं। आग जैसे-जैसे बढ़ने लगी, हजारों मनुष्यों के क्रूर उल्लास का शब्द चारों ओर गूंजने लगा।

मगर वे शब्द दिगन्त में विलीन होते न होते लोगों के कानों में मानो सहसा स्वर्ग की किसी अद्भुत वीणा की झंकार का स्वर सुनाई दिया। सभी चकित होकर देखने लगे, लहराती हुई आग के बीच शान्त, निर्विकार भाव से खड़ी हुई रोजेटा, हाथ जोड़ कर भक्ति से गद्‌गद कण्ठ से माता 'मेरी' से प्रार्थना कर रही थी।

"माता! सारे जगत् की माता! तुम तो इस जगत् के रचयिता की माता हो!...तुमसे क्या छिपा रह सकता है?...तुम्हारे चरणों के बीच ही सूर्य और चन्द्र उदय होते हैं! तुम्हारी उस स्वर्ण प्रतिमा को घेर-घेर कर सातों ग्रह-तारा नाचते हैं!...तुमसे अपराध कौन छिपा सकता है? माता तुम जानती हो कि तुम्हारी लड़की निर्दोष है! इस भयानक आग के ताप से और

असह्य कलक के ताप से भी अपनी निर्दोष लड़की की रक्षा करो, माता....

उस समय प्रबल हवा से धधकती हुई आग की हजारों शिखायें ऊपर चढ़ रही थी। जो पास खड़े थे, वे आग के ताप से धीरे-धीरे दूर हटते गये। दोनों हाथ जोड़े हुये, बन्द आँखों से खड़ी रोजेटा का भक्ति से गद्‌ग वह मुखड़ा, आग के ताप से लाल होकर मानो एक स्वर्गीय आभा से चमक रहा था! चारों ओर इकट्ठी हुई भीड़ ने उस अपूर्व ज्योतिर्मयी मूर्त्ति को देख कर, भक्ति और विस्मय से क्षण भर के लिये सिर नीचा कर लिया था।

सहसा मानो किसी के कोमल हाथ के स्पर्श से चौंक कर रोजेटा ने आँखें खोलीं; चौंक कर देखा—स्वर्ग से एक देवदूत उसके पास उतर आये हैं; विचित्र रंगों से रंगे हुए पंख फैला कर रोजेटा के पास खड़े हैं, और उसके वेदना से जलते हुए शरीर पर अपना स्निग्ध और कोमल हाथ स्नेह के साथ फेर रहे हैं! हर्ष और विस्मय से पुलकित रोजेटा ने बहुत संकोच के साथ चारो ओर देखा—वह पहले की धधकती हुई आग अब नहीं थी! उसके बदले में उसके चारों ओर तरह-तरह के रंगों के अपूर्व स्वर्गीय फूलों की ऊपर से वर्षा हो रही थी! और उनकी विचित्र सुगन्ध हवा में भरी हुई थी—नशा ला रही थी।

उसी दिन पहले-पहल गुलाब ने स्वर्ग से दुनिया में आकर जन्म लिया। उस दिन भक्त की पवित्र आत्मा की भाँति, मनोरम गुलाब का सौरभ दुनिया के मनुष्यों ने पहले-पहल सूंघ पाया। रोजेटा के नाम पर उस फूल का नाम पड़ा—रोज़।

राजकुमारी

गुर्जर प्रदेश में कुसुम्भपुर के राजा बन्धुहित बड़े सुख से राजभोग कर रहे थे। कन्या मधुस्रवा का यत्न, सेनापति बलाहक का शत्रु-शासन और क्षेमश्री की मीठी कविताओं और गानों ने राजा को सदा चिन्तामुक्त और आनन्दित कर रक्खा था !

मधुस्रवा की देह में खिले फूल का-सा सौन्दर्य था, उसकी कुछ चंचल आँखों में शुभ्र दूध की नदी की भाँति मुग्ध दृष्टि थी; उसकी काली केश-राशि के बीच उसकी मधुर मुख द्युति घन में बिजली की तरह लगती थी।

समुद्र के किनारे राज-सभा थी—संगमरमर-निर्मित, मणि-जड़ित, बाग से सुशोभित, सागर से चुम्बित। दक्खिन में तरंगों से चंचल अनन्त समुद्र था; पूर्व में समुद्र से सम्मिलित विशाखा नदी थी; उत्तर में नगर के प्रान्त पर ढेर-सा बादल की तरह धुंएँ के रंग का मुंजकेश पर्वत था; पश्चिम में चन्दन-वृक्षों का बन था। समुद्र का गर्जन, विशाखा का गुंजन, मुंजकेश पर्वत पर के वृक्षों का नीला सौन्दर्य, चन्दन-वन की सुगन्धि राज-सभा को बहुत मधुर कर के रखती। राजा की बगल में बैठी मधुस्रवा की रूप-ज्योति राज-सभा को पूर्ण सौन्दर्य देती।

मधुस्रवा का सौन्दर्य और कुसुम्भपुरी की दौलत अनेक वीर हृदयों को प्रलुब्ध करती, पर बलाहक की तलवार सब को विमुख कर देती। राजा आनन्द-चित्त से क्षेमश्री का काव्य-रस उपयोग करते। बलाहक की तलवार मधुश्रवा को स्मरण कर के जैसी भयानक दुर्द्धर्ष हो उठी थी; क्षेमश्री की कवितायें और गाने भी उसी प्रकार मधुस्रवा और राजा को ही आश्रय कर के सब को आनन्द में भर देते थे।

युद्ध में जाने के समय बलाहक जिस करुण प्रेम से, व्याकुल दृष्टि से मधुस्रवा के निकट विदा की प्रार्थना करता, बलाहक की उस क्षणिक दृष्टि में कितना प्रेम, कितनी नीरव प्रार्थना मधुस्रवा के चरणों पर निवेदित होती, यह किसी से छिपी नहीं रहती। शत्रु-विजय के अन्त में क्षेमश्री की कवितायें और गाने में बन्द कमल के चारों ओर घिरे हुये भँवर की भाँति जो हर्ष और शोक से भीगी गुंजन-

ध्वनित होती ..... मधुस्रवा समझती कितना प्रेम, कितनी अव्यक्त व्याकुलता उसे ही आश्रय कर के रो-रो कर उच्छ्वासित हो उठ रही है। जब बलाहक गर्व से सिर ऊँचा कर के सभा में खड़े होकर दृढ़ स्वर से कहता—"महाराज, आप लोगों के स्नेह-वर्म में आत्मरक्षा कर के मैं आज विजयी हूँ !" तब क्षेमश्री आनन्द से उज्ज्वल नेत्रों से सिर झुकाये गाता—"अजी ! तुम्हारे प्रेम में मैं आज बन्दी हूँ !" कैदी शत्रु को राजा के सामने लाकर बलाहक जब कहता- —"महाराज, इस भयंकर शत्रु को साँकल में बाँध कर लाया हूँ। कहिये, इसे क्या सजा दी जाय !"

तब क्षेमश्री सजल नयनों से करुणा से मधुर वाणी में गाता—"बंदी की लोहे की साँकल खोल दो, उसे प्रेम की साँकल में चिरबंदी करो।"

जब बलाहक शुभ आरम्भ में देव-दर्शन की भाँति एक क्षणिक दृष्टि से मधुस्रवा की सौन्दर्य सुधा पी कर लक्ष्य-वेध में लग जाता, तब क्षेमश्री फूल-सी कोमल दृष्टि से मधुस्रवा की आरती कर आता। बलाहक देखते-देखते मुस्कराता; क्षेमश्री की आँखें देखते-देखते सजल हो उठतीं।

(२)

मधुस्रवा का विवाह-काल आ गया। बलाहक ने मधुस्रवा का विवाह-प्रार्थी होकर राजा से बोला—"महाराज, हृदय का रक्त देकर सदा आप की आज्ञा का पालन किया है, अब उसका पुरस्कार दीजिये।" क्षेमश्री ने कर जोड़ कर भीत हृदय से कम्पित स्वर में कहा—"महाराज, क्षुद्र सामर्थ्य देकर आप लोगों की आजीवन सेवा की है, वह स्मरण कर के प्रसाद-भिक्षा दीजिये।"

दोनों ही राजा के प्रिय थे। क्षेमश्री ने केवल प्रीति दी है; बलाहक ने धन और जन की रक्षा की है। उन्होंने अपनी दुविधा दूर करने और कर्त्तव्य निर्णय की आशा से मधुस्रवा की ओर देख कर जाना कि वह दोनों का ही मधुर दृष्टि से अभिनन्दन कर रही है। तब राजा ने कहा—"धरणी और रमणी वीर के योग्य है; तुम लोगों के बल की परीक्षा हो जाय।"

बलाहक का चेहरा आशा से उज्ज्वल हो उठा; छाती फूल उठी। बलाहक की ओर देख कर मधुस्रवा जरा मुस्कराई; किन्तु क्षेमश्री के मलिन मुख की ओर देखते ही वह मुस्कान फीकी हो गई।

क्षेमश्री बोला—"महाराज, कवि सौन्दर्य का पुजारी है, रमणी प्रेम की पक्षपातिनी है; हम लोगों के प्रेम की गहराई की परीक्षा हो।" मधुस्रवा की मीठी दृष्टि पड़ कर क्षेमश्री का सुन्दर मुख उज्ज्वल हो उठा। बलाहक ने व्याकुलता से राजा के चेहरे की ओर देखा।

राजा बोले—"निर्बल कभी भी आत्मरक्षा में समर्थ नहीं है; मेरे राज्य और कन्या की रक्षा में कौन सामर्थ्य रखता है ?"

बलाहक ने म्यान से तलवार निकाली, और मधुस्रवा के मुस्कान से मीठे मुख की ओर देखा।

क्षेमश्री गाने लग गया—"प्रेम से शत्रु पर विजयी होऊँगा, प्रेम के बल से बलवान होऊँगा; स्वार्थ ही क्या परमार्थ है ? विरोध से क्षुब्ध राज्य से निर्विरोध वृक्ष का तल अच्छा है।"

इसी तरह एक के बाद दूसरा आत्म-पक्ष समर्थन कर के जो जब मधुस्रवा की कृपा दृष्टि पा रहा था, तब वही प्रफुल्ल और दूसरा दुःखित हो रहा था। राजा बोले—"बलवान ही मेरी कन्या पा सकेगा।"

तब गर्व से बलाहक ने तलवार लेकर क्षेमश्री को आह्वान किया। क्षेमश्री की व्याकुल दृष्टि मधुस्रवा के नयनों पर बँध गई। अब मधुस्रवा बोली—"ऐसे बल की परीक्षा न्याय-संगत नही है। एक आजन्म शिक्षित सैनिक है, दूसरा शस्त्र-प्रयोग में अनजान कवि है। ऐसे असम युद्ध में बल की अपेक्षा कौशल की ही जय होने की संभावना है। और शस्त्र-युद्ध में एक मृत या घायल हो सकता है। मुझे यह ठीक नही जँचता।"

बलाहक ने उसकी ओर तिरस्कार-भरी दृष्टि फेंकी, क्षेमश्री की दृष्टि में प्रेम और कृतज्ञता बहने लगी। "तब बाहु-युद्ध हो।" मधुस्रवा को यह भी निरापद नही लगा। तब निश्चय हुआ कि "बोझ उठाने की शक्ति देख कर बल का माप होगा।"

(२)

शरद काल की सुनहली उज्ज्वल रवि-किरण सभा के आँगन पर फैलते न फैलते सभागृह जनपूर्ण हो उठा। वैतालिक ने राजा के आगमन की घोषणा की। क्षेमश्री सदा की भाँति राजा की अभ्यर्थना कर के गाने लगा पर आज की गीत

अति संक्षिप्त और करुण था। नौबत बज उठी। राजा के आदेश से परीक्षा प्रारम्भ हुई।

बलाहक वजनी बोझ उठाने लगा। क्रमशः अधिक से अधिक वजनी बोझ उसके सामने लाये जा रहे थे, और वह ऊपर उठा कर फेंक दे रहा था। बलाहक एक बोझ छाती तक उठा कर और ऊँचा उठा नहीं सका।

अब क्षेमश्री की बारी आई। क्षेमश्री का सदा प्रफुल्ल मुख आज शरद प्रभात की भाँति गहरे सौन्दर्य से भरा था। वह बढ़ा। हजारों आँखें उस अक्षम पर करुणा तथा शुभ इच्छा की वर्षा करने लगीं। क्षेमश्री ने एक बार समुद्र की स्तब्ध गम्भीर मूर्त्ति देखी, एक बार विशाखा नदी की ओर देखा, एक बार मुजकेश पर्वत की ओर देखा, एक बार चन्दन-वृक्ष के वन की ओर देख लिया, अन्त में मधुस्रवा को देख कर उज्ज्वल हो उठा, फिर उसने पैर के पास पड़े उस वजनी बोझ को दोनों हाथों से पकड़ कर बड़ी तेजी से सिर के ऊपर उठाया।

क्षेमश्री की विजय से सभा में हर्ष का शोर मच उठा; सभा के लोगों की दृष्टि के आघात से बलाहक की पराजय और भी तीव्र हो उठी। लज्जा से बलाहक का मुख पीला हो गया—उसकी दृष्टि भूमि की ओर लगी रही। राजा बोले—"धन्य हो क्षेमश्री, धन्य हो! तुम्हारे प्रेम की जय हुई है! अब बोझा ऊपर उठाये रखने की आवश्यकता नहीं है, नीचे फेंक दो।"

विजय से उल्लसित कवि के कानों में इस बात ने प्रवेश नहीं किया। कवि की दृष्ठि मधुस्रवा के मुख पर बँधी हुई थी,—वजनी पत्थर का बोझ सिर के ऊपर उठाये वह चुप-चाप खड़ा रहा। चारों ओर से ध्वनि उठी—"फेंक दो, फेंक दो, पत्थर फेंक दो।" कवि का मुख मुस्कान से दीप्त था, आँखें मधुस्रवा की ओर निबद्ध थीं, हाथों पर बोझा था। कवि अविचल, अकम्पित था। मधुस्रवा बोली—"कवि के हाथों पर से बोझा उतार दो!"

उसी क्षण कई आदमियों ने बढ़ कर कवि के हाथों से पत्थर खींच लिया। पर उसी क्षण क्षेमश्री की जीवनहीन देह पत्थर की मूर्त्ति-सी भूमि पर गिर पड़ी। विजय से गर्वित कवि के इस अपूर्व देह-त्याग ने राज-सभा के आनन्द-कोलाहल पर मृत्यु का करुण तथा गम्भीर परदा खींच दिया। मधुस्रवा ने अपने प्रण-विजयी पति की इस महान मृत्यु से हर्ष और शोक से विह्वल होकर बेहोशी में शान्ति पाई।

खोज

उसका नाम था वसन्त। वह काशीराज के भीतरी महल के बाग़ का माली था।

वसन्त-काल के एक प्रभात में वह—एक अपरिचित, अज्ञात नवयुवक—जब राज-सभा में एक नौकरी की माँग लेकर आ खड़ा हुआ, तब उसे देख कर सभासदों के ईर्ष्यापूर्ण चित्त प्रेम-रस से अभिषिक्त हो गये थे; बूढ़े मंत्री का सन्देह-पूर्ण गम्भीर मन स्नेह के स्पर्श से चंचल हो उठा था; राजा की आँखें प्रशंसा और पुलक से फैल गई थीं; और राज-सभा के एक प्रान्त में हाथी-दाँत की बनी 'चिक' की आड़ में बैठी हुई नवयुवतियों की चंचल आँखों की पलकें कुछ क्षणों के लिये नहीं गिरी थीं।

राजा ने सादर स्वागत कर के सभा में बैठा कर पूछा—"तुम कौन हो युवक? किस देश के, किस परिवार को सुखी कर के तुमने जन्म लिया है? तुम्हारी देह तो फूल-सी सुकुमार है। तुम कौन काम करोगे? तुम कुछ भी न करना, तुम मेरी सभा को आनन्द से उज्ज्वल कर के रहो।"

वसन्त ने विनय की साक्षात् मूर्त्ति की भाँति मस्तक झुका कर राज-कृपा ग्रहण की; फिर धीरे, पर दृढ़ स्वर में से कहा—"महाराज, कर्महीनता की क्लान्ति से मेरी रक्षा कीजिये। मेरी सामान्य शक्ति महाराज की सेवा में लग जाय।"

मुस्कान-भरे चेहरे से आनन्दित राजा ने कहा—"बहुत अच्छा, युवक, बहुत अच्छा! कौन काम तुम्हारा रुचिर होगा? मन्त्री, सेना-पति, सभा-कवि—कोई भी तुम्हें सहकारी पाने पर सुखी होंगे। कहो, तुम्हें कौन काम पसन्द है?"

वसन्त ने हाथ जोड़ कर कहा—"महाराज, मैं अक्षम हूँ। गुरुभार मुझ पर न दीजिये। मैं महाराज के खास बाग़ का माली होना चाहता हूँ; प्रति दिन नये-नये फूलों की माला से महाराज की पूजा करूँगा; वीणा के संगीत से प्रातः-सन्ध्या महाराज की वन्दना गाऊँगा। मैं और कुछ भी नहीं चाहता।"